

भारत में पर्यावरण चेतना और आंदोलन: एक ऐतिहासिक विवेचन

*प्रो. तबस्सुम फरखी

*विभागाध्यक्ष इतिहास, एम० एल० के० पी० जी० कालेज बलरामपुर (उ० प्र०)

**आशीष कुमार मिश्र

**शोध छात्र इतिहास, एम० एल० के० पी० जी० कालेज बलरामपुर (सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु सिद्धार्थनगर)

सारांश—

प्रस्तुत शोधपत्र भारतीय समाज में पर्यावरण चेतना के ऐतिहासिक विकास और संगठित जनआंदोलनों का क्रमबद्ध अध्ययन करता है। शोध यह प्रतिपादित करता है कि पर्यावरण संरक्षण की जड़ें भारत की प्राचीन सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं (जैसे वैदिक, बौद्ध—जैन चिंतन) में गहराई से विद्यमान हैं, जहाँ प्रकृति को माता और सहजीवन का आधार माना गया। प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में वनों और जलस्रोतों के संरक्षण की परंपराएँ धार्मिक आस्था, सामुदायिक प्रबंधन और राज्य की नीतियों (सम्राट अशोक के अभिलेख) से जुड़ी हुई थीं।

औपनिवेशिक काल में, ब्रिटिश शासन की शोषणपरक नीतियों (वनों की अंधाधुंध कटाई, खनन, नकदी फसलों की खेती) ने इस संतुलन को गंभीर रूप से भंग किया। इससे पारिस्थितिक तंत्र में असंतुलन उत्पन्न हुआ और स्थानीय समुदायों के पारंपरिक अधिकारों का हनन हुआ, जिसने आधुनिक पर्यावरण आंदोलनों की वैचारिक नींव रखी।

स्वतंत्रता के बाद तीव्र औद्योगीकरण और बड़े विकास परियोजनाओं (बाँध, खनन) ने वनों की कटाई, नदियों के प्रदूषण और विस्थापन जैसे संकटों को जन्म दिया। इसी पृष्ठभूमि में चिपको, अप्पिको, साइलेंट वैली, और नर्मदा बचाओ जैसे संगठित पर्यावरण आंदोलनों का उदय हुआ। इन आंदोलनों ने एकांगी, केंद्रीकृत विकास की अवधारणा को चुनौती देते हुए सतत विकास, सामाजिक न्याय और जनसहभागिता पर आधारित वैकल्पिक दृष्टि प्रस्तुत की। निष्कर्षतः, यह अध्ययन प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और आधुनिक संघर्षों के समन्वय द्वारा एक ऐसे भविष्य के निर्माण पर जोर देता है जहाँ प्रगति और प्रकृति एक-दूसरे के पूरक हों।

मुख्य शब्द— पर्यावरण चेतना, प्रकृति संरक्षण, भारतीय पर्यावरण आंदोलन, औपनिवेशिक दोहन, चिपको, साइलेंट वैली, नर्मदा बचाओ, सतत विकास, जैव विविधता, जलवायु परिवर्तन

प्रस्तावना—

पर्यावरण मानव जीवन का आधार है। वायु, जल, भूमि, वन, पर्वत, नदियाँ और जीव-जंतु मिलकर उस प्राकृतिक तंत्र का निर्माण करते हैं, जिसके बिना पृथ्वी पर जीवन की कल्पना संभव नहीं है। प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में प्रकृति को माता के रूप में सम्मानित किया गया है। “माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः” जैसी वैदिक सूक्तियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि भारतीय समाज में पर्यावरण के प्रति श्रद्धा, संरक्षण और सहअस्तित्व की भावना गहराई से रची-बसी रही है। किंतु औद्योगीकरण, जनसंख्या वृद्धि, उपभोक्तावादी संस्कृति और अनियंत्रित विकास के कारण प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन होने लगा, जिससे पर्यावरण संतुलन गंभीर रूप से प्रभावित हुआ। इसी पृष्ठभूमि में पर्यावरण चेतना और पर्यावरण आंदोलनों का उदय हुआ।

पर्यावरण चेतना से आशय उस सामाजिक और बौद्धिक जागरूकता से है, जिसके माध्यम से मनुष्य प्रकृति के महत्व को समझता है और उसके संरक्षण के लिए सक्रिय भूमिका निभाने के लिए प्रेरित होता है। यह चेतना केवल आधुनिक काल की देन नहीं है, बल्कि इसके बीज भारतीय दर्शन, धर्म और लोक परंपराओं में प्राचीन काल से विद्यमान रहे हैं। वेदों में वन, नदियों और पृथ्वी की स्तुति, बौद्ध और जैन परंपरा में अहिंसा तथा सभी प्राणियों के प्रति करुणा, तथा पुराणों में वृक्षों को देवतुल्य मानने की परंपरा इसी पर्यावरणीय दृष्टि को दर्शाती है। इससे स्पष्ट होता है कि भारत में पर्यावरण संरक्षण कोई नई अवधारणा नहीं, बल्कि सांस्कृतिक विरासत का अभिन्न अंग रहा है।

आधुनिक युग में, विशेषतः औपनिवेशिक काल के दौरान, वनों की कटाई, खनन, बड़े बाँधों और रेलमार्गों के निर्माण ने प्राकृतिक संसाधनों पर अभूतपूर्व दबाव डाला। इससे न केवल पारिस्थितिक असंतुलन उत्पन्न हुआ, बल्कि आदिवासी और ग्रामीण समुदायों का जीवन भी प्रभावित हुआ। स्वतंत्रता के बाद भी विकास की दौड़ में अनेक ऐसी परियोजनाएँ लागू की गईं, जिनसे पर्यावरणीय संकट और गहरा हुआ। परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न वर्गों में यह बोध उत्पन्न हुआ कि यदि प्रकृति का संरक्षण नहीं किया गया तो मानव सभ्यता का भविष्य संकट में पड़ सकता है। इसी बोध ने संगठित पर्यावरण आंदोलनों को जन्म दिया।

भारत में चिपको आंदोलन, अप्पिको आंदोलन, साइलेंट वैली आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन जैसे जनांदोलनों ने न केवल प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की माँग उठाई, बल्कि विकास की वैकल्पिक और सतत दृष्टि को भी सामने रखा। इन आंदोलनों के माध्यम से यह स्पष्ट हुआ कि पर्यावरण संरक्षण केवल वैज्ञानिक या सरकारी नीति का विषय नहीं, बल्कि जनसहभागिता और सामाजिक चेतना से जुड़ा प्रश्न है।

अतः “भारत में पर्यावरण चेतना और आंदोलन रू एक ऐतिहासिक विवेचन” विषय के अंतर्गत यह आवश्यक हो जाता है कि हम भारतीय समाज में प्रकृति के प्रति विकसित दृष्टिकोण, औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में उत्पन्न पर्यावरणीय संकट, तथा उनसे उपजे जनआंदोलनों का क्रमबद्ध ऐतिहासिक अध्ययन करें। यह अध्ययन न केवल अतीत को समझने में सहायक होगा, बल्कि वर्तमान पर्यावरणीय चुनौतियों के समाधान और भविष्य की सतत विकास नीति के लिए भी दिशा प्रदान करेगा।

प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में पर्यावरण दृष्टि—

प्राचीन भारत में पर्यावरण के प्रति दृष्टिकोण केवल भौतिक संसाधनों के उपयोग तक सीमित नहीं था, बल्कि वह आध्यात्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों से गहराई से जुड़ा हुआ था। वैदिक साहित्य में प्रकृति को देवतुल्य मानते हुए पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, सूर्य और वनस्पतियों की स्तुति की गई है। ऋग्वेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद में पृथ्वी सूक्त, वनस्पति सूक्त तथा जल सूक्त जैसे मंत्रों के माध्यम से प्रकृति के संरक्षण और संतुलन की भावना व्यक्त होती है। “माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः” जैसे वाक्य यह दर्शाते हैं कि मनुष्य स्वयं को पृथ्वी का पुत्र मानकर उसके प्रति कर्तव्यबोध रखता था। वृक्षों को देवताओं का निवास—स्थल समझा जाता था और उनकी रक्षा को धार्मिक कर्तव्य माना जाता था।

बौद्ध और जैन परंपराओं ने भी पर्यावरण चेतना को सुदृढ़ किया। अहिंसा, अपरिग्रह और सभी जीवों के प्रति करुणा के सिद्धांतों ने मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्यपूर्ण संबंध स्थापित करने की शिक्षा दी। सम्राट अशोक के अभिलेखों में वन्य जीवों के संरक्षण, वृक्षारोपण और जलाशयों के निर्माण के उल्लेख मिलते हैं, जो यह दर्शाते हैं कि राज्य स्तर पर भी पर्यावरण के प्रति उत्तरदायित्व का बोध था। मौर्य प्रशासन में वन विभाग जैसी संस्थाओं की उपस्थिति, वनों और पशुओं की रक्षा के लिए नियमों का निर्माण, उस समय की उन्नत पर्यावरण नीति को प्रतिबिंबित करता है।

गुप्त काल में भी प्रकृति संरक्षण को सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग माना गया। मंदिरों, आश्रमों और तीर्थस्थलों के आसपास उपवनों और जलकुंडों का निर्माण, नदियों को पवित्र मानकर उनकी स्वच्छता और संरक्षण की परंपरा, तथा कृषि के साथ वनों के संतुलित उपयोग की नीति, इस काल की पर्यावरणीय दृष्टि को उजागर करती है। आयुर्वेदिक ग्रंथों में वनस्पतियों के संरक्षण और उनके औषधीय गुणों का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग के साथ-साथ उनके संरक्षण का भी ज्ञान विकसित हो चुका था।

मध्यकालीन भारत में भी पर्यावरण के प्रति यह दृष्टि पूर्णतः समाप्त नहीं हुई। इस्लामी शासनकाल में ‘बाग़’ संस्कृति का विकास हुआ, जिसमें उद्यान, जलस्रोत और हरियाली को शासकीय तथा शहरी जीवन का आवश्यक अंग माना गया। अकबर के काल में वृक्षारोपण, जल प्रबंधन और पशु संरक्षण के लिए नियम बनाए गए। फतहपुर सीकरी और मुगल उद्यानों की जल संरचनाएँ तथा हरित क्षेत्र उस समय की पर्यावरणीय समझ का प्रमाण हैं। ग्रामीण समाज में तालाबों, कुओं, बावड़ियों और वनक्षेत्रों की सामुदायिक देखभाल की परंपरा विद्यमान थी, जो स्थानीय स्तर पर संसाधनों के सतत उपयोग को सुनिश्चित करती थी।

इस प्रकार प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में पर्यावरण दृष्टि धार्मिक आस्था, नैतिक मूल्यों, प्रशासनिक नीतियों और लोक परंपराओं के समन्वय से निर्मित थी। प्रकृति को केवल उपभोग की वस्तु नहीं, बल्कि सहजीवन का आधार माना जाता था। यद्यपि उस समय आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में “पर्यावरण संरक्षण” की अवधारणा नहीं थी, फिर भी व्यवहारिक स्तर पर संतुलन, संयम और संरक्षण की भावना प्रबल रूप से विद्यमान थी। यही परंपरा आगे चलकर आधुनिक काल में विकसित पर्यावरण चेतना और आंदोलनों की वैचारिक पृष्ठभूमि बनी।

औपनिवेशिक काल और पर्यावरणीय संकट—

औपनिवेशिक काल भारतीय पर्यावरण के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ के रूप में देखा जाता है। इस अवधि में प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग की पारंपरिक और संतुलित व्यवस्था को तोड़कर उन्हें औपनिवेशिक सत्ता के आर्थिक हितों के अधीन कर दिया गया। ब्रिटिश शासन का मुख्य उद्देश्य भारत के वनों, खनिजों, जल और भूमि का अधिकतम दोहन कर साम्राज्यवादी उद्योगों और व्यापार को लाभ पहुँचाना था। परिणामस्वरूप, वनों की अंधाधुंध कटाई, कृषि के व्यावसायीकरण, रेलमार्गों और नहरों के विस्तार, तथा खनन गतिविधियों ने पर्यावरणीय संतुलन को गंभीर रूप से प्रभावित किया।

ब्रिटिश शासन के दौरान वन नीति में आमूलचूल परिवर्तन हुआ। 1865 और 1878 के वन अधिनियमों के माध्यम से वनों को राज्य की संपत्ति घोषित कर दिया गया और स्थानीय समुदायों के परंपरागत अधिकार सीमित कर दिए गए। रेलवे स्लीपर, जहाज निर्माण और ईंधन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बड़े पैमाने पर सागौन, साल और देवदार जैसे बहुमूल्य वृक्षों की कटाई की गई। इससे न केवल जैव विविधता को क्षति पहुँची, बल्कि उन आदिवासी और वनवासी समुदायों की आजीविका भी संकट में पड़ गई, जिनका जीवन वनों पर आधारित था।

कृषि व्यवस्था में भी औपनिवेशिक नीतियों ने पर्यावरणीय संकट को जन्म दिया। नकदी फसलों जैसे नील, कपास, जूट और चायकृकी खेती को बढ़ावा देने के लिए एकल फसल प्रणाली (मोनोकॉपिंग) अपनाई गई, जिससे मिट्टी की उर्वरता घटने लगी और पारिस्थितिक संतुलन बिगड़ गया। सिंचाई नहरों और बड़े जल-प्रबंधन परियोजनाओं ने कुछ क्षेत्रों में कृषि उत्पादन बढ़ाया, परंतु कई स्थानों पर जलभराव, लवणता और बाढ़ जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुईं।

खनन और औद्योगिक गतिविधियों के विस्तार ने भी पर्यावरण पर गहरा प्रभाव डाला। कोयला, लोहा और अन्य खनिजों के उत्खनन से पहाड़ी और वन क्षेत्र क्षतिग्रस्त हुए, नदियों और जलस्रोतों में प्रदूषण बढ़ा तथा स्थानीय पारिस्थितिकी तंत्र में असंतुलन पैदा हुआ। शहरीकरण और औद्योगिक केंद्रों के विकास के साथ वायु और जल प्रदूषण की समस्याएँ भी उभरने लगीं, जो पहले अपेक्षाकृत सीमित थीं।

इन परिवर्तनों के विरुद्ध स्थानीय समाज में असंतोष और प्रतिरोध की भावना भी विकसित हुई। संथाल, भील, मुंडा और अन्य आदिवासी आंदोलनों में केवल सामाजिक-आर्थिक शोषण के विरुद्ध ही नहीं, बल्कि अपने प्राकृतिक संसाधनों, वन, भूमि और जलकृके संरक्षण की आकांक्षा भी निहित थी। बिरसा मुंडा के नेतृत्व में हुआ उलगुलान आंदोलन वनों पर सामुदायिक अधिकारों की रक्षा का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।

इस प्रकार औपनिवेशिक काल में अपनाई गई शोषणपरक नीतियों ने भारतीय पर्यावरण को गहरे संकट में डाल दिया। प्राकृतिक संसाधनों के उपभोग की पारंपरिक, संतुलित और सामुदायिक व्यवस्था के स्थान पर लाभ-केंद्रित और केंद्रीकृत नियंत्रण स्थापित हुआ। यही ऐतिहासिक अनुभव आगे चलकर आधुनिक भारत में पर्यावरणीय चेतना और संगठित आंदोलनों की वैचारिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि बना, जिसने विकास और संरक्षण के बीच संतुलन की नई बहस को जन्म दिया।

आधुनिक भारत में संगठित पर्यावरण आंदोलन—

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत ने तीव्र औद्योगीकरण, शहरीकरण और विकास की नीति को अपनाया। बड़े बाँधों, बिजली परियोजनाओं, खनन, उद्योगों और परिवहन नेटवर्क के विस्तार को राष्ट्रनिर्माण का प्रतीक माना गया। किंतु इन परियोजनाओं के साथ वनों की कटाई, नदियों का प्रदूषण, जैव विविधता का ह्रास और लाखों लोगों का विस्थापन भी जुड़ा हुआ था। जैसे-जैसे विकास के दुष्परिणाम स्पष्ट होने लगे, समाज के विभिन्न वर्गों में यह बोध उत्पन्न हुआ कि केवल आर्थिक प्रगति पर्याप्त नहीं है, बल्कि पर्यावरणीय संतुलन और सामाजिक न्याय भी उतने ही आवश्यक हैं। इसी चेतना से आधुनिक भारत में संगठित पर्यावरण आंदोलनों का उदय हुआ।

इन आंदोलनों में सबसे प्रसिद्ध चिपको आंदोलन है, जो 1973 में उत्तराखंड (तत्कालीन उत्तर प्रदेश) के चमोली जिले के गोपेश्वर नामक स्थान पर प्रारंभ हुआ। यह आंदोलन तब चर्चा में आया जब स्थानीय ग्रामीणों, विशेषतः गौरा देवी के नेतृत्व में महिलाओं ने ठेकेदारों द्वारा वृक्षों को कटने से बचाने के लिए उनसे चिपककर (अंगलिङ्गन करके) विरोध किया। सुंदरलाल बहुगुणा ने 'हिमालय बचाओ, देश बचाओ' का नारा दिया और इस आंदोलन को एक राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया, जिसने वन विनाश और हिमालय के नाजुक पारिस्थितिकी तंत्र के बीच के संबंध को रेखांकित किया। चंडी प्रसाद भट्ट ने श्दशोली ग्राम स्वराज्य मंडल के माध्यम से स्थानीय लोगों को संगठित किया। आंदोलन का तात्कालिक परिणाम यह रहा कि सरकार को हिमालयी क्षेत्र में वृक्षों की व्यावसायिक कटाई पर 15 वर्षों के लिए रोक लगानी पड़ी। यह आंदोलन केवल वन संरक्षण तक सीमित न रहकर, विकास की वैकल्पिक अवधारणा और स्थानीय समुदायों के अधिकारों का प्रतीक बन गया।

दक्षिण भारत में कर्नाटक के पश्चिमी घाट क्षेत्र में अप्पिको आंदोलन ने चिपको की ही तर्ज पर वनों की रक्षा के लिए जनसहभागिता को संगठित किया। 1983 में उत्तरा कन्नड़ जिले में शुरू हुए इस आंदोलन का नेतृत्व पांडुरंग हेगड़े ने किया। 'अप्पिको' शब्द का अर्थ भी 'गले लगाना' या 'चिपकना' होता है। यह आंदोलन वनों की कटाई, एकल वृक्षारोपण और वनों पर सरकारी नियंत्रण के विरुद्ध स्थानीय जनजातीय समुदायों के अधिकारों की रक्षा पर केंद्रित था।

केरल में साइलेंट वैली आंदोलन 1970-80 के दशक में चला। यह आंदोलन कुन्तीपुझा नदी पर प्रस्तावित एक जलविद्युत परियोजना के विरुद्ध था, जो पलक्कड़ जिले में स्थित इस अद्वितीय उष्णकटिबंधीय वर्षावन को नष्ट कर सकती थी। साइलेंट वैली अपनी दुर्लभ जैव विविधता और विशेष रूप से 'लायन-टेल्ड मकाक' के आवास के लिए जानी जाती है। वैज्ञानिकों, छात्रों और सामाजिक संगठनों के संयुक्त प्रयास के कारण इंदिरा गांधी के नेतृत्व वाली केंद्र सरकार को परियोजना अंततः रद्द करनी पड़ी और साइलेंट वैली को 1985 में राष्ट्रीय उद्यान घोषित किया गया। यह आंदोलन भारत में पारिस्थितिक संरक्षण के लिए वैज्ञानिक शोध और जनआंदोलन के सफल गठजोड़ का एक प्रमुख उदाहरण है।

नर्मदा बचाओ आंदोलन आधुनिक भारत का एक प्रमुख जनांदोलन रहा, जिसने सरदार सरोवर बाँध परियोजना और अन्य बड़े बाँधों के पर्यावरणीय और सामाजिक प्रभावों को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उजागर किया। मेधा पाटकर के

नेतृत्व में इस आंदोलन ने केवल विस्थापित आदिवासियों और किसानों के समुचित पुनर्वास की माँग ही नहीं की, बल्कि विकास के पूरे मॉडल पर सवाल उठाया। आंदोलन का मुख्य लक्ष्य बाँध की ऊँचाई कम करवाना और यह सुनिश्चित करना था कि विकास की प्रक्रिया सामाजिक न्याय और पर्यावरणीय संतुलन के सिद्धांतों पर आधारित हो। आंदोलन ने दशकों तक संघर्ष किया और विकास परियोजनाओं के खिलाफ कानूनी हस्तक्षेप, जन-सुनवाई और अहिंसक प्रतिरोध के नए तरीके स्थापित किए।

इसी प्रकार टिहरी बाँध विरोध आंदोलन ने हिमालयी क्षेत्र की भूकंपीय संवेदनशीलता और भागीरथी नदी-परिस्थितिकी के प्रश्न को सामने रखा। सुंदरलाल बहुगुणा सहित कई कार्यकर्ताओं ने इस अतिविशाल परियोजना के विरुद्ध लंबे समय तक संघर्ष किया, जिससे बड़े विकास परियोजनाओं के बहुआयामी खतरों पर राष्ट्रीय विमर्श शुरू हुआ।

इन आंदोलनों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही कि उन्होंने विकास की एकांगी, केंद्रीकृत और पूँजी-प्रधान अवधारणा को चुनौती दी और स्थानीय समुदायों की भागीदारी, पारिस्थितिक संतुलन तथा सामाजिक न्याय पर आधारित वैकल्पिक मॉडल प्रस्तुत किया। इनसे प्रेरित होकर पर्यावरण को लेकर न्यायालयों की सक्रियता बढ़ी, पर्यावरणीय कानूनों को बल मिला और नीति-निर्माण में जनमत की भूमिका सुदृढ़ हुई।

इस प्रकार आधुनिक भारत के संगठित पर्यावरण आंदोलनों ने केवल वनों, नदियों और जीव-जंतुओं की रक्षा ही नहीं की, बल्कि यह भी स्पष्ट किया कि प्रकृति और मानव समाज के बीच संतुलित संबंध ही वास्तविक प्रगति का आधार हो सकता है।

समकालीन चुनौतियाँ और भविष्य-

इक्कीसवीं सदी में भारत तीव्र आर्थिक विकास, औद्योगीकरण और शहरीकरण के दौर से गुजर रहा है। इस प्रक्रिया ने जीवन स्तर में सुधार के साथ-साथ गंभीर पर्यावरणीय चुनौतियाँ भी उत्पन्न की हैं। जलवायु परिवर्तन, वायु और जल प्रदूषण, वनों का क्षरण, जैव विविधता का ह्रास, भूजल का अत्यधिक दोहन तथा ठोस अपशिष्ट प्रबंधन की समस्या आज देश के समक्ष प्रमुख संकट के रूप में उभर कर सामने आई हैं। ये चुनौतियाँ केवल पर्यावरण तक सीमित नहीं हैं, बल्कि मानव स्वास्थ्य, खाद्य सुरक्षा और सामाजिक-आर्थिक स्थिरता से भी गहराई से जुड़ी हुई हैं।

जलवायु परिवर्तन के प्रभाव भारत में विशेष रूप से स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। अनियमित मानसून, बार-बार आने वाली बाढ़ और सूखे, हिमालयी हिमनदों का पिघलना तथा समुद्र-स्तर में वृद्धि, ये सभी घटनाएँ कृषि, जल संसाधनों और तटीय आबादी पर प्रतिकूल प्रभाव डाल रही हैं।

महानगरों में बढ़ता वायु प्रदूषण श्वसन रोगों और अन्य स्वास्थ्य समस्याओं को जन्म दे रहा है, जबकि नदियों और भूजल स्रोतों का प्रदूषण स्वच्छ पेयजल की उपलब्धता को संकटग्रस्त बना रहा है। तेजी से बढ़ता शहरीकरण और उपभोक्तावादी जीवनशैली भी पर्यावरणीय दबाव को बढ़ा रही है। ठोस कचरे, प्लास्टिक अपशिष्ट और ई-कचरे के प्रबंधन की अपर्याप्त व्यवस्था से भूमि और जल प्रदूषण बढ़ रहा है। ऊर्जा की बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए जीवाश्म ईंधनों पर निर्भरता अभी भी बनी हुई है, जिससे कार्बन उत्सर्जन में वृद्धि हो रही है और वैश्विक तापवृद्धि की समस्या गंभीर होती जा रही है।

इन चुनौतियों के बीच भविष्य की दिशा निर्धारित करने के लिए "सतत विकास" की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। इसका तात्पर्य ऐसे विकास से है, जो वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भविष्य की पीढ़ियों के अधिकारों से समझौता न करे। नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों-जैसे सौर, पवन और जल ऊर्जा का विस्तार, ऊर्जा दक्षता, हरित प्रौद्योगिकी और पर्यावरण-अनुकूल शहरी नियोजन इस दिशा में आवश्यक कदम हैं।

साथ ही, जनसहभागिता और पर्यावरण शिक्षा की भूमिका भी निर्णायक है। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पर्यावरण अध्ययन को सुदृढ़ करना, स्थानीय समुदायों को प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन में सहभागी बनाना तथा पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों को आधुनिक विज्ञान के साथ जोड़ना भविष्य के लिए एक संतुलित मार्ग प्रशस्त कर सकता है। न्यायपालिका और संवैधानिक संस्थाओं द्वारा पर्यावरणीय अधिकारों की रक्षा तथा नीतियों के प्रभावी क्रियान्वयन से भी संरक्षण की प्रक्रिया को बल मिल सकता है।

अंततः, भारत का भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि वह विकास और संरक्षण के बीच संतुलन कैसे स्थापित करता है। यदि आर्थिक प्रगति को पर्यावरणीय न्याय और पारिस्थितिक संतुलन के साथ जोड़ा जाए, तो न केवल वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं की पूर्ति संभव होगी, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए भी एक सुरक्षित और स्वस्थ पर्यावरण सुनिश्चित किया जा सकेगा। यही समकालीन पर्यावरणीय चुनौतियों का उत्तर और भविष्य की सतत राह है।

निष्कर्ष-

प्रस्तुत शोधपत्र का ऐतिहासिक विवेचन यह स्पष्ट करता है कि भारत में पर्यावरण चेतना की जड़ें वैदिक, बौद्ध-जैन और लोक परंपराओं में गहराई से निहित हैं, जहाँ प्रकृति को सहजीवन का आधार माना गया। यह पारंपरिक संतुलन औपनिवेशिक काल की शोषणपरक नीतियों से भंग हुआ, जिसने आधुनिक भारत में चिपको, नर्मदा बचाओ जैसे संगठित जनआंदोलनों को जन्म दिया। इन आंदोलनों ने यह सिद्ध किया कि पर्यावरण संरक्षण केवल पारिस्थितिकीय या प्रशासनिक विषय नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, लोकतांत्रिक सहभागिता और सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़ा एक व्यापक मुद्दा है।

इन आंदोलनों ने नीति-निर्माण और कानून व्यवस्था को प्रभावित करते हुए विकास और संरक्षण के बीच संतुलन की आवश्यकता को रेखांकित किया है। हालांकि, समकालीन भारत में जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण और जैव विविधता का ह्रास जैसी गंभीर चुनौतियाँ आज भी विद्यमान हैं।

भविष्य की राह सतत विकास के सिद्धांतों में निहित है। ऐतिहासिक अनुभव से प्रेरणा लेते हुए यह अनिवार्य है कि नीति और व्यवहार में नवीकरणीय ऊर्जा, सामुदायिक भागीदारी और पर्यावरणीय शिक्षा को प्रमुखता दी जाए। वास्तविक प्रगति तभी संभव है जब आर्थिक विकास को पर्यावरणीय न्याय के साथ एकीकृत किया जाए। इस संतुलित दृष्टिकोण से ही एक ऐसे भविष्य का निर्माण किया जा सकता है जहाँ मानव उन्नति और प्रकृति संरक्षण परस्पर विरोधी न होकर, एक-दूसरे के पूरक हों।

शोध प्रविधि—

प्रस्तुत शोधपत्र “भारत में पर्यावरण चेतना और आंदोलन : एक ऐतिहासिक विवेचन” में ऐतिहासिक एवं विश्लेषणात्मक शोध पद्धति को अपनाया गया है। इस अध्ययन का उद्देश्य भारत में प्राचीन काल से लेकर समकालीन समय तक विकसित पर्यावरण चेतना और उससे जुड़े आंदोलनों के क्रमिक विकास, उनके कारणों, स्वरूप और प्रभावों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करना है। शोध की प्रकृति गुणात्मक है, जिसमें तथ्यों, घटनाओं और विचारों की व्याख्या ऐतिहासिक संदर्भों के आधार पर की गई है।

इस शोध में मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है। इनमें इतिहास, पर्यावरण अध्ययन और समाजशास्त्र से संबंधित प्रामाणिक पुस्तकों, शोध पत्रिकाओं, विश्वविद्यालयी शोध-प्रबंधों (शोधगंगा), सरकारी दस्तावेजों, पर्यावरण मंत्रालय की रिपोर्टें तथा विश्वसनीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों को सम्मिलित किया गया है। विशेष रूप से रामचंद्र गुहा, मधु सरिन, सुंदरलाल बहुगुणा, मेधा पाटकर आदि विद्वानों और पर्यावरण कार्यकर्ताओं के लेखन से प्राप्त सामग्री का सहारा लिया गया है।

अध्ययन की पद्धति वर्णनात्मक-विश्लेषणात्मक रही है। पहले विभिन्न ऐतिहासिक कालखंडों—प्राचीन, मध्यकालीन, औपनिवेशिक और आधुनिक—में पर्यावरण के प्रति समाज और राज्य की नीतियों का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् चिपको, साइलेंट वैली, नर्मदा बचाओ जैसे प्रमुख आंदोलनों का केस-स्टडी के रूप में विश्लेषण कर उनके सामाजिक, आर्थिक और पारिस्थितिक प्रभावों का मूल्यांकन किया गया है।

तथ्यों की प्रामाणिकता बनाए रखने के लिए विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है तथा आवश्यक स्थानों पर संदर्भों का उल्लेख किया गया है। अध्ययन में ऐतिहासिक कालक्रम का पालन करते हुए घटनाओं की कारण-परिणाम श्रृंखला को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, जिससे पर्यावरण चेतना के विकास की निरंतरता और परिवर्तन दोनों को समझा जा सके।

इस प्रकार यह शोधपत्र ऐतिहासिक साक्ष्यों, विद्वानों के विचारों और समकालीन पर्यावरणीय परिदृश्य के समन्वय से एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जो भारत में पर्यावरण आंदोलनों के उद्भव और विकास को वैज्ञानिक एवं अकादमिक ढंग से समझने में सहायक है।

अध्ययन के उद्देश्य—

प्रस्तुत शोधपत्र “भारत में पर्यावरण चेतना और आंदोलन : एक ऐतिहासिक विवेचन” के अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. भारत में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक पर्यावरण के प्रति विकसित दृष्टिकोण और चेतना का ऐतिहासिक अनुशीलन करना।
2. औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक काल में उत्पन्न पर्यावरणीय संकटों के सामाजिक, आर्थिक एवं पारिस्थितिक कारणों का विश्लेषण करना।
3. चिपको, अप्पिको, साइलेंट वैली, नर्मदा बचाओ जैसे प्रमुख पर्यावरण आंदोलनों के उद्भव, स्वरूप और प्रभावों का अध्ययन करना।
4. समकालीन पर्यावरणीय चुनौतियों के आलोक में सतत विकास की आवश्यकता को रेखांकित करना।

सन्दर्भ सूची—

1. गुहा, रामचंद्र—Environmentalism: A Global History, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. गुहा, रामचंद्र एवं माधव गाडगिल—This Fissured Land: An Ecological History of India, ऑक्सफोर्ड।
3. बहुगुणा, सुंदरलाल—हिमालयी पर्यावरण और विकास, राजकमल प्रकाशन।
4. पाटकर, मेधा—नर्मदा संघर्ष और विकास की अवधारणा, सेतु प्रकाशन।
5. सरिन, मधु—भारत में वन नीति और जन आंदोलन, सेज पब्लिकेशन्स।
6. अग्रवाल, अनिल एवं नारायण, सुनीता—भारत में पर्यावरणीय संकट, सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट।
7. भारत सरकार—पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986।
8. भारत सरकार—राष्ट्रीय वन नीति, 1988।
9. एनसीईआरटी—पर्यावरण अध्ययन, नई दिल्ली।
10. शर्मा, आर. एस.—प्राचीन भारत का इतिहास, ओरिएंट ब्लैकस्वान।